

भ्रष्टाचार-उन्मूलन की संस्थागत राजनीति

प्रतिमान-व्याख्यान

अमिताभ राजन

प्रतिमान की व्याख्यान-शृंखला में अभी तक साहित्य और सौंदर्यशास्त्र जैसे विषयों पर ज़्यादा ज़ोर रहा है। लेकिन, इसी साल फ़रवरी में आयोजित किये गये इस व्याख्यान का गहरा ताल्लुक़ राजनीति, लोक-प्रशासन, उसकी समस्याओं, भौतिकताओं और नैतिकताओं से है। अपनी विद्वत्ता और प्रशासनिक कुशलता के लिए विख्यात अमिताभ राजन का यह व्याख्यान इसलिए और भी मानीख़ेज़ हो जाता है क्योंकि एक वरिष्ठ अधिकारी के रूप में उन्होंने सरकार के भीतर रह कर काम करते हुए भ्रष्टाचार की प्रक्रिया को नज़दीक से देखा है। वे जानते हैं कि भ्रष्टाचार सरकार के कामकाज में किस तरह व्याप्त रहता है और सरकार के जन-कल्याण कार्यक्रम उसके कारण किस तरह विकृति के शिकार होते हैं। दूसरी तरफ़ राजनीति में भ्रष्टाचार-निवारण का आडम्बर और लफ़्फ़ाज़ी एक एजेण्डे के तौर पर हमेशा चलती रहती है। लेकिन भ्रष्टाचार अपनी जगह लगातार क़ायम रहता है। राजन ने यह सब अंदर से देखा है, और उसके साथ जद्दोजहद की है। महाराष्ट्र में गृह सचिव पद पर रहते हुए उन्हें सिंचाई घोटाले का पर्दाफ़ाश करने का श्रेय जाता है। यह एक ऐसा घोटाला था जिसमें शरद पवार के भांजे अजीत पवार जैसे ताक़तवर लोग शामिल थे।

मुझे यहाँ आमंत्रित किया गया, इसके लिए आभार व्यक्त करता हूँ। मेरे सामने जिस तरह के लोग बैठे हैं, उन्हें देख कर मुझे अलग तरह की ख़ुशी हो रही है। आप इतनी सर्दी में यहाँ आये, और एक ऐसे विषय को सुनने के लिए आये जिसे आप टेलिविज़न पर देखते ही रहते हैं। बहरहाल, मैं यहाँ जो कहना चाहता हूँ वह स्व का प्रदर्शन नहीं होगा कि मैंने फलाँ काम किया या मुझसे फलाँ काम नहीं हुआ। मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि आप ज्ञानी हैं, अनुभवी हैं और आपको समाज की चिंता है। मैं जिस विषय पर बोलने जा रहा हूँ उसका अकादमिक पक्ष बहुत कम सामने आता है। इसलिए मैं भ्रष्टाचार निवारण से संबंधित वैश्विक ज्ञान भी आपके सम्मुख लाना चाहूँगा। आप जानते हैं कि किसी भी व्याख्यान की एक वैचारिक पृष्ठभूमि होती है। पीढ़ी के संदर्भ में कहूँ तो एक समय बाद हमारी पीढ़ी समाप्त हो जाएगी। इसलिए हमें अपने मन की बात बारीकी से कहनी चाहिए। यह इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि टीवी, रेडियो और अख़बारों में हम जिस तरह की बहस या विचार-विमर्श देखते हैं वह राजनीति का बहुत सरलीकृत रूप है।

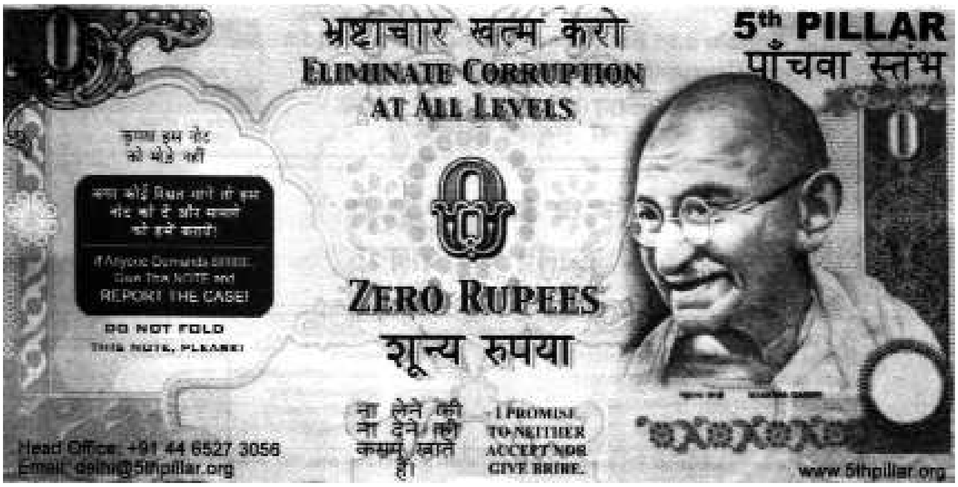
शुचिता और सत्ता का द्वंद्व

मैं अपनी बात विगत दो दिनों की घटनाओं से शुरू करूँगा। इन दिनों जिन लोगों ने टीवी देखा होगा, उन्हें पता होगा कि स्पेशल कोर्ट के न्यायाधीश ने कोयला घोटाले के मामले में निर्णय ले लिया है। और जैसी कि परम्परा है, सज़ा कल सुनाई जाएगी। इस निर्णय के अनुसार एक भूतपूर्व मुख्यमंत्री, एक मुख्य सचिव और एक सचिव स्तर का अधिकारी इस मामले में दोषी पाए गये हैं। लेकिन क्या इस घटना से हम ख़ुश हो जाएँ? टीवी पर तो इसे सरकार की मुस्तैदी और सक्रियता के तौर पर पेश किया जा रहा है। हमारा कहना है कि मामला बहुत गम्भीर हो चुका है।

भ्रष्टाचार-उन्मूलन की राजनीति 'शुचिता' और 'सत्ता' का वह द्वंद्व है जिसका तनाव हम भारतवासी वर्षों से झेल रहे हैं। अब साफ़ हो चुका है कि यह खेल सिर्फ़ दलगत राजनीति नहीं है। इसमें परामर्शदाताओं का एक ऐसा समूह भी संलिप्त है जो भ्रष्टाचार-विरोधी हर कोशिश को विफल करने की तकनीकी-बौद्धिक ताक़त रखता है। संस्थागत राजनीति के इस उभार में एक ओर चुनावी-घोषणापत्रों का वाग्जाल तैयार करने का कौशल है, तो दूसरी ओर उनके अनुपालन के स्वार्थ की हद तक शिथिल करने की युक्तियाँ भी! सारा-का-सारा उपक्रम छद्म और कुत्सा का एक संरचनात्मक-संस्थागत रूप ले चुका है जिसे ठीक से समझना अभी बाक़ी है। हमें जब तक मुद्दे की सही समझ नहीं होगी तब तक हम कुछ ख़ास नहीं कर पाएँगे। मुझे लगता है कि हम बहुत जल्दी एक गहरे नैतिक संकट में फँसने वाले हैं। सत्ता और शुचिता का यह संघर्ष अभी निर्णायक स्थिति में नहीं पहुँचा है।

दूसरी घटना कल हुई थी। कल मेरे पास बम्बई से *द इण्डियन एक्सप्रेस* के एक वरिष्ठ पत्रकार का फ़ोन आया था। उन्होंने बताया कि सिंचाई घोटाले में एफ़आईआर दर्ज हो गयी है। मैंने उनसे तुरंत पूछा, क्या एफ़आईआर में किसी नेता का नाम भी शामिल है? उन्होंने भी ऐसी ही तत्परता से जवाब दिया : इसीलिए तो आपको बता रहा हूँ कि किसी भी नेता का नाम शामिल नहीं है। इसका मतलब क्या है? इनवेस्टिगेशन के स्तर पर ही कुछ ऐसा हुआ है कि कुछ नाम शामिल नहीं किये गये। इस प्रसंग में मैं संस्थाबद्ध राजनीति का ज़िक्र बाद में करूँगा।

तीसरी घटना कल की है। कल सर्वोच्च न्यायालय से यह समाचार आया कि सरकार राजनेताओं- सांसदों और विधायकों आदि— के ख़िलाफ़ चल रहे 1571 मुक़दमों की सुनवाई के लिए 17 विशेष अदालतों का गठन करेगी। मैंने जब इस ख़बर को ध्यान से पढ़ा तो पता चला कि यह तो कोई और कहानी है। हुआ यह था कि 2013 में कुछ लोगों ने सर्वोच्च न्यायालय में यह याचिका दायर करके पूछा कि राजनेताओं के विरुद्ध लम्बित मामलों में कोई ठोस कार्रवाई क्यों नहीं हो रही। इस पर जस्टिस लोढ़ा ने मार्च 2014 में एक आदेश जारी किया कि इन मामलों के निवारण के लिए विशेष जाँच दल



और विशेष अदालतें गठित की जाएँ।

यह आदेश राज्य और केंद्र सरकार, दोनों को भेजा गया था। मैं यह ख़बर सुनकर बहुत ख़ुश हुआ। उस समय मैं गृह सचिव था। मैंने तीन महीने के अंदर इस आदेश के संबंध में एक जीआरवी यानी एक शासकीय निर्णय जारी किया। यह 11 सितम्बर, 2014 को निकाला गया था। *द इण्डियन एक्सप्रेस* के उक्त पत्रकार ने मुझे यह भी बताया था कि आपने इस संबंध में जो निर्णय पारित किया था उसका महाराष्ट्र में कोई असर नहीं हुआ। वह मुझसे पूछ रहा था कि यह कैसे होता है कि सर्वोच्च न्यायालय एक आदेश देता है और कोई उसे निगल जाता है। असल में, जैसे ही संबंधित राज्य या सरकार पर अदालत की अवमानना करने का मामला उभरता है तो उसकी दलील होती कि हाँ, हम विशेष अदालत गठित करने की तैयारी में लगे हैं और फलाँ-फलाँ विभाग इस मामले में कार्रवाई कर रहा है।

दरअसल, यह संस्थागत राजनीति का उदाहरण है। यहाँ कोई राजनेता कुछ कहता-सुनता दिखाई नहीं देता। ऐसी चीज़ों को अंदर के लोग अंज़ाम देते हैं। संक्षेप में, मैं कहना यह चाहता हूँ कि अगर हम ख़बरों की हैडलाइंस पढ़कर अपना मंतव्य बनाएँगे तो हम भारत के भविष्य के बारे में बहुत बड़ी चूक करेंगे। हम ऐसे किस तरह बनते हैं ? मैं या अभयजी की पीढ़ी के लोग इस तरह कैसे बनते हैं ? मैं पीढ़ी के संदर्भ में सोच रहा हूँ। मुझे अपने बचपन का एक प्रसंग याद आ रहा है। 1961 में एक फ़िल्म आयी थी *गंगा-जमुना* जिसका एक भजन उन दिनों बहुत लोकप्रिय था। यह भजन शक़ील बदायूँनी ने लिखा था और इसे हेमंत कुमार ने गाया था। तब मैं बहुत छोटा था लेकिन यह भजन जहाँ-तहाँ बजते लाउडस्पीकरों से अक्सर कानों में पड़ता रहता था। यह भजन कुछ इस तरह था : इंसाफ़ की डगर पे बच्चो दिखाओ चल के, ये देश है तुम्हारा नेता तुम्हीं हो कल के।

आज अगर इस गीत का विखण्डन करके देखें तो उस समय हमारे लिए इंसाफ़ की डगर का मतलब तो संविधान ही था। इसमें बच्चों से आह्वान किया जा रहा है कि वे इंसाफ़ की डगर पर चल कर दिखाएँ। अब ग़ौर से देखिए कि यहाँ नेताओं ने ख़ुद को इंसाफ़ की डगर पर चलने से बचा लिया है और उन्हें 'नेता तुम्हीं हो कल के' कहकर दायित्व का बोझ उन्हीं पर डाल दिया है। इस तरह हमारी पीढ़ी पर एक दायित्व-बोध पहले ही लाद दिया गया था। 1954 के आसपास दिनकरजी ने भी एक कविता लिखी थी। राज्यसभा में मनोनीत होने के बाद जब उन्होंने राजनीति का हाल देखा तो यह कविता लिखी—

हिल रहा देश कुत्सा के जिन आघातों से
वे नाद तुम्हें ही नहीं सुनाई पड़ते हैं

यदि सरकार के वेतनभोगी एजेंट्स भ्रष्ट गतिविधियों द्वारा अवैध-धंधों का नेटवर्क तैयार कर चुके हैं, तो सर्वशक्तिमान विधायिकाएँ जनता के प्रतिनिधि के रूप में उन्हें ऐसा करने से रोकने में विफल क्यों हैं ? सरकार द्वारा प्रस्तावित भ्रष्टाचार-विरोधी हर विधेयक जन-विरोधी धाराओं के साथ पारित क्यों हो जाता है ? जिन्होंने हैबरमास को पढ़ा है उन्हें समझने में समय नहीं लगेगा कि ऐसा क्यों होता है : वैधता के संकट से जूझ रही लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ सत्ता को बरक़रार रखने के क्रम में कई तरह के समझौते करती हैं। विधि और लोकतंत्र का क्लिष्ट संबंध दरअसल विमर्श के छद्म में उलझ कर रह गया है।

निर्माण के प्रहरियो! तुम्हें चोरों के काले
चेहरे नहीं दिखाई पड़ते हैं ...

अंत में दिनकर इस बिंदु पर आते हैं—

तो होश करो, दिल्ली के देवो होश करो ...।

दिनकर कहते हैं कि यह मोहिनी ज़्यादा दिन नहीं चलेगी—

जिसके आगे झुक गये सिद्धियों के स्वामी
उस वैभव को कुछ नयी आँधियाँ मोड़ेंगी ...

अब ग़ौर करें कि इस वैभव को ध्वस्त करने का दायित्व भी नयी पीढ़ी पर आयद कर दिया गया है—

ऐसा टूटेगा मोह यह एक दिन के भीतर
इस राग-रंग की पूरी बर्बादी होगी
जब तक देश के घर-घर में रेशम होगा ...

इसमें मुख्य बात ये है कि यहाँ फिर नौजवान आ गये। यानी 1954 में नयी पीढ़ी से उम्मीद की जा रही थी कि वह राग-रंग को एक दिन में बर्बाद कर देगी। इसके बाद हमारी पीढ़ी कॉलेज पहुँची। उस समय जेपी का आंदोलन चल रहा था। उससे पहले नव-निर्माण की बात फ़िज़ाओं में थीं। जेपी के आंदोलन ने तो हमें भीतर तक हिला दिया था। उसके बाद सामान बाँध कर जेएनयू पहुँचे तो पता चला कि प्रशासन दाख़िले की लिस्ट ही नहीं निकाल रहा है। प्रशासन उत्तर प्रदेश और बिहार से आये छात्रों की जाँच कर रहा था कि उनका पिछला रिकॉर्ड क्या रहा है। हम लोग इक्कीस दिनों तक इंतज़ार करते रहे। डेविड सेलबॉर्न ने अपनी किताब *ऐन आई टू इण्डिया* में उन दिनों का ज़िक्र किया है। इसके अलावा, दूसरी तरफ़ नक्सल आंदोलन चल रहा था। हमारी पीढ़ी का विकास इस पृष्ठभूमि में हुआ।

भ्रष्टाचार का विमर्शी स्थापत्य

बहरहाल, 1973 में जब तेल संकट की शुरुआत हुई तो कुछ अच्छी किताबों से परिचय हुआ। इस दौरान हैबरमास की किताब *लेजिटिमेशन क्राइसिस* पढ़ी जिससे पता चला कि राज्य किस तरह शोषण करता है और वह ख़ुद परम्पराओं के सामने कितना लाचार होता है। अब मैं सीधे भ्रष्टाचार के मसले पर आता हूँ। येल युनिवर्सिटी में विधिशास्त्र (ज्युरिस्पुडेंस) की प्रोफ़ेसर सूज़न रोज एक्रेमन ने भ्रष्टाचार पर सबसे व्यवस्थित काम किया है। वैसे तो उनकी कई किताबें महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन उनकी एक किताब— *करप्शन : अ स्टडी इन पॉलिटिकल इकॉनॉमी* ज़रूर पढ़ी जानी चाहिए।

उन्होंने इस किताब में भ्रष्टाचार के विमर्श को क़ानून, राजनीति और अर्थशास्त्र के ज़रिये आगे बढ़ाया है। इस दौरान दुनिया में एक और विषय चलन में आया जिसे इंस्टीट्यूशनल इकॉनॉमिक्स कहा गया। फिर, इसी की एक और शाखा प्रकट हुई जिसे न्यू इंस्टीट्यूशनल इकॉनॉमिक्स का नाम दिया गया। यह भ्रष्टाचार को समझने का एक ज़्यादा बारीक परिप्रेक्ष्य मुहैया कराता है। इसमें बताया जाता है कि



जब विधि के अंतर्गत राज्य की विभिन्न संस्थाओं—सरकार, अधिकारी-तंत्र आदि की व्यवस्था की जाती है तो उनमें विभिन्न प्रकार के एजेंट अपने न्यस्त हितों को सुरक्षित रखने के लिए किस तरह की तरक़ीब भिड़ाते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य से हमें यह भी पता चलता है कि सरकार में काम करने वाला नौकरशाह, जिसे जनता के पैसों से वेतन दिया जाता है, सत्ता की दरारों में ऐसी कुत्सा का निर्माण क्यों करता है जिसके ज़रिये आर्थिक-वित्तीय प्रक्रियाओं में भ्रष्ट तौर-तरीक़ों को प्रोत्साहन मिलता है। यहाँ दो शब्द विशेष महत्त्व रखते हैं : जनता के एजेंट (उनके प्रतिनिधि नहीं) तथा आर्थिक-वित्तीय अनियमितताएँ (करप्ट ट्रांज़ेक्शंस)। लोगों ने इस पर व्यापक अध्ययन किया है कि लोगों के स्वभाव में तो कोई बहुत बड़ा बदलाव नहीं होने वाला, व्यवस्था की अपनी कमज़ोरियाँ रहेंगी ही, तो फिर ऐसे में ट्रांजैक्शन को भ्रष्टाचार से मुक्त कैसे रखा जाए? ये सारे प्रश्न एक अंतर-अनुशासनीय अध्ययन-परम्परा से जाकर जुड़ते हैं। वैश्विक स्तर पर स्वीकृत यह प्रविधि विधि द्वारा स्थापित संस्थाओं की दरारों में छिपे 'एजेंट्स' के उन ट्रांज़ेक्शंस की पड़ताल करती है और इस तरह भ्रष्ट युक्तियों के नेटवर्क को उजागर करती हैं। इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काम युरोपियन युनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट की विद्वान दोनातेला देला पोर्ता ने किया है। इटली के माफ़िया तंत्र पर केंद्रित उनकी एक किताब— *द हिडन ऑर्डर ऑफ़ करप्शन : एन इंस्टीट्यूशनल अप्रोच* भ्रष्टाचार के स्थापत्य का बड़ी बारीकी से विश्लेषण करती है। भ्रष्टाचार के स्वरूप पर जर्मन विद्वान और ट्रांस्पेरेंसी इंटरनेशनल के वर्षों तक सलाहकार रहे जोहन लैंब्सडोर्फ़ की पुस्तक *द इंस्टीट्यूशनल इकॉनॉमिक्स ऑफ़ करप्शन ऐंड रिफ़ॉर्म* है। इंस्टीट्यूशनल इकॉनॉमिक्स को समझने के लिए इससे बेहतर कोई और किताब नहीं है।

भ्रष्टाचार से संबंधित एक दूसरे महत्त्वपूर्ण अध्ययन में ब्रायन हस्टेड ने इस नुक़्ते पर विचार किया है कि समाज भ्रष्टाचार के उन्मूलन में यथेष्ठ भूमिका क्यों नहीं निभा पाता। हस्टेड पहले अर्थशास्त्र पढ़ाते थे, लेकिन बाद में प्रबंधन के विशेषज्ञ बन गये। अपने विश्लेषण में हस्टेड बताते हैं कि समाज में आज्ञाकारिता को एक बड़ा और सकारात्मक गुण समझा जाता है। वह लोगों से अपेक्षा करता है कि वे अपने से उच्चपदस्थ लोगों की आज्ञा का पालन करें। मेरे ख़याल से ऐसे में होता यह है कि एक साधारण व्यक्ति, जिसके लिए नौकरी ही जीविका का एकमात्र ज़रिया होती है, अपने से वरिष्ठ लोगों के ख़िलाफ़ बोलने से बचता है। सम्भव है कि वह स्वयं किसी क़िस्म के कदाचार में लिप्त होना न चाहे, परंतु उसमें इतना साहस नहीं होता कि वह उच्चपदस्थों से टकराव मोल ले सके।

दमित आदमी के भीतर पदानुक्रम संबंधी वरिष्ठता के प्रति बहुत सम्मान रहता है। इस तरह हस्टेड ने पदानुक्रमीय मानसिकता (हायरार्कीकल माइंडसेट) का अध्ययन किया है। ऐसे मानस को

विद्रोह की स्थिति तक आने में समय लगता है। हस्टेड ने लिखा बहुत है, लेकिन मैंने जो यहाँ कहा है वह उनके अटलांटा में दिये गये एक छोटे से व्याख्यान 'द आर्गनाईज़ेशन ऑफ़ करप्शन' पर आधारित है। भ्रष्टाचार पर हार्वर्ड के एक न्यूरो साइंटिस्ट ने न्यूरोसाइंस तथा कॉग्निटिव साइकोलॅजी की दृष्टि से काम किया है। उन्होंने इस आयाम की पड़ताल की है कि कुछ लोगों का भ्रष्ट होना आसान क्यों होता है और कुछ लोग इससे क्यों बचे रहते हैं।

इन अध्ययनों से जहाँ भ्रष्टाचार के विषय में एक नयी अंतर्दृष्टि मिलती हैं, वहीं कई प्रश्न भी खड़े होते हैं । यदि सरकार के वेतनभोगी एजेंट्स भ्रष्ट गतिविधियों द्वारा अवैध-धंधों का नेटवर्क तैयार कर चुके हैं, तो सर्वशक्तिमान विधायिकाएँ जनता के प्रतिनिधि के रूप में उन्हें ऐसा करने से रोकने में विफल क्यों हैं? सरकार द्वारा प्रस्तावित भ्रष्टाचार-विरोधी हर विधेयक जन-विरोधी धाराओं के साथ पारित क्यों हो जाता है? जिन्होंने हैबरमास को पढ़ा है उन्हें समझने में समय नहीं लगेगा कि ऐसा क्यों होता है : वैधता के संकट (लेजिटिमेशन क्राइसिस) से जूझ रही लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ सत्ता को बरक़रार रखने के क्रम में कई तरह के समझौते करती हैं। विधि और लोकतंत्र का क्लिष्ट संबंध दरअसल विमर्श के छद्म में उलझ कर रह गया है। भ्रष्टाचार का दंश मूलतः अनुभव से जाना जाता है और यथास्थिति की राजनीति के स्वार्थ-प्रेरित प्रपंच सत्ता के इर्द-गिर्द ही परिलक्षित होते हैं।

इस बात को ज़रा प्रशासन के संदर्भ में रखकर देखें। एक नौजवान जब ट्रेनिंग में आता है, तब तो वह अच्छा ही होता है। मेरा जब आईएएस में प्रशिक्षण काल शुरू हुआ तो मेरे बैच में सौ लोग थे और सभी ठीक थे। आज उनमें से दो लोग जेल होकर आये हैं; कई ऐसे हैं जिन्होंने वह सब किया है जिसकी उनसे अपेक्षा नहीं की जाती थी। तो ऐसा क्या होता है जो व्यक्ति के भीतर भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ प्रतिरोध की क्षमता को कम कर डालता है? इसके पीछे सिर्फ़ लालच नहीं होता। उनमें एक क़िस्म की कमज़ोरी होती है। कई दफ़ा ऐसा कमज़ोर व्यक्ति ग़लत करने की हद तक नहीं जाता; ज़रूरी नहीं है कि वह पैसा लेता हो या ग़लत ट्रांज़ेक्शन करता हो, लेकिन वह इसमें मदद करता है। तो मैं कहना यह चाहता हूँ कि अगर कोई अधिकारी राजनीतिक दबाव के सामने झुकता है तो वह इस ग़लत ट्रांज़ेक्शन को मदद करता है। मैंने यहाँ जिस विद्वान का उल्लेख किया है उनका नाम मार्क हाउज़र है। इसके बाद मैं इस सूची में और इज़ाफ़ा नहीं करूँगा।

अगर आप उनकी किताब—*मॉरल माइंड्स : हाऊ नेचर डिज़ाइंड अवर युनिवर्सल सेंस ऑफ़ राइट ऐंड रांग* पढ़ें तो आपको बहुत अच्छा लगेगा। इस किताब में एक अध्याय है जिसका शीर्षक 'द मॉरल ऑर्गन' है। इस अध्याय में हाउज़र ने इस बात का विश्लेषण किया है कि मनुष्य के मस्तिष्क के निर्माण पर सामाजिक वर्जनाओं का क्या असर पड़ता है। इसके बाद हाउज़र जॉन रॉल्स द्वारा प्रतिपादित न्याय के प्रथम सिद्धांत का उपयोग करते हुए अपना विश्लेषण आगे बढ़ाते हैं। यह किताब लगभग दस साल पहले आयी थी। इसके निष्कर्षों पर आज तक किसी ने आपत्ति नहीं उठायी।

भ्रष्टाचार का व्यावहारिक रूप

बहरहाल, अब मैं भ्रष्टाचार के व्यावहारिक रूप पर वापस आता हूँ। बातचीत के इस खण्ड में मैं पहले भारत के बारे में बात करूँगा और बाद में उसके वैश्विक विमर्श की चर्चा करूँगा। मैं अपने कुछ अनुभवों के ज़रिये यह दिखलाने की कोशिश करूँगा कि हमने पीछे जिन विद्वानों का ज़िक्र किया है, उनकी बात भारत के संदर्भ में कैसे और कहाँ तक लागू होती है। उपरोक्त सभी विद्वानों की बातों को तीन लफ़्ज़ों में व्यक्त किया जा सकता है और वह यह है कि भ्रष्टाचार के बाहरी एजेंटों पर नहीं उसके सांस्थानिक ढाँचे पर ध्यान दीजिए।

अगर हम भ्रष्टाचार के संस्थागत उन्मूलन की लड़ाई लड़ना चाहते हैं तो हमें तीन चीज़ों पर ध्यान देना होगा। एक तो हमें उसकी प्रक्रिया पर ध्यान देना होगा, जिसे प्रशासनिक नियमों में लोकतंत्र की

प्रक्रियागत समझ कहा जाता है। क्या सिर्फ़ नरेंद्र मोदी या मनमोहन सिंह के ईमानदार होने से भ्रष्टाचार ख़त्म हो जाएगा? इसके उलट, भ्रष्टाचार के उन्मूलन के लिए नागरिकों द्वारा छेड़ा गया संघर्ष ही ज़्यादा समग्र होगा। मतलब यह कि अगर भ्रष्टाचार की प्रक्रिया को सांस्थानिक ढाँचे में रख कर नहीं देखा जाएगा तो हम भ्रष्टाचार का कुछ नहीं कर पाएँगे। फिर तो वही होगा कि सिंचाई घोटाले में एफ़आईआर तो दर्ज कर दी गयी, लेकिन उसमें राजनेताओं के नाम ग़ायब हैं।

अगर भ्रष्टाचार करने वाला ही सेंक्शनिंग अथॉरिटी है तो जाँच-पड़ताल का खेल भी तो उसी के हाथ में होगा। ऐसे में कोई इंजीनियर क्या कर लेगा! आगे मैं आपको कुछ ऐसे प्रसंग भी सुनाऊँगा। जिन्होंने हैबरमास की किताब *बिटवीन फ़ैक्ट्स ऐंड नॉर्म्स* पढ़ी है, वे जानते हैं कि क़ानून और लोकतंत्र में प्रक्रिया की भूमिका और संवाद की क्या स्थिति होनी चाहिए। आप जानते हैं कि हमारे यहाँ संवाद तूतू-मैं-मैं के अंदाज़ में होता है, और उसके पीछे अनजाने-अप्रत्याशित राजनीतिक दाँव-पेंच होते हैं।

ज़ाहिर है कि हमारे प्रश्न इस तरह नहीं सुलझेंगे। भ्रष्टाचार के स्थापत्य में दूसरी महत्त्वपूर्ण चीज़ होती है कोड्स। भाषाशास्त्र के लोग कोड्स का अर्थ जानते ही हैं। आख़िर कोई यह तो नहीं कहता कि चलो भ्रष्टाचार करें! ज़रा पुराने दौर की फ़िल्मों के खलनायक के.एन. सिंह को याद करिए। उनकी आँखें बड़ी प्रभावशाली थीं। वे बहुत ज़्यादा बोलते नहीं थे, लेकिन आँखों से डरा देते थे। संस्थाओं में काम करने वाले लोग जानते हैं कि शासक अपनी देह-भाषा का इस्तेमाल किस तरह करते हैं। हमारे अधिकारी-तंत्र में यह प्रवृत्ति कुछ ज़्यादा हावी है। यहाँ सब कुछ कोड्स में कह दिया जाता है। पोर्ता ने अपनी किताब में दिखाया है कि माफ़िया तंत्र के गठन में कोड्स की क्या भूमिका होती है।

अंततः भ्रष्टाचार के मामले में तीसरा महत्त्वपूर्ण घटक नेटवर्क होता है। क़ानून की भाषा में भ्रष्टाचार का अर्थ है भरोसे का ख़त्म हो जाना। लोकतंत्र एक भरोसे पर ही क़ायम है। लेकिन जब हम क़ानून के दायरे में दाख़िल होते हैं तो यह न्याय-भंग एक आपराधिक कृत्य बन जाता है। और किसी भी व्यवस्था का सबसे बुनियादी काम यह होता है कि वह न्याय-भंग की स्थिति को कैसे सँभालती है। यहाँ निष्पक्षता की एक निश्चित भूमिका होती है।

बहरहाल, अब मैं इन प्रक्रियाओं और प्रसंगों को अपने अनुभव के ज़रिये बताना चाहता हूँ। आईएएस में प्रशिक्षण के बाद पहले पहल मुझे सब-डिविज़नल ऑफ़िसर नियुक्त किया गया। उस समय मुझमें ज़बरदस्त उत्साह भरा था। संदेह तो मैं दिल्ली के विश्वविद्यालयों की पढ़ाई और पठन-पाठन से लेकर गया ही था, लेकिन मन में इरादा पक्का था कि काम सही करूँगा। इससे पहले, आईएएस का परिणाम आने के बाद मैं कुछ समय तक ऊहापोह में रहा कि मुझे ज्वाइन करना चाहिए या नहीं। नौकरशाही के प्रति एक शंका तो पहले से ही थी। तब समझदार लोगों ने मुझसे कहा कि 'जाओ, क्रांति तो होने वाली नहीं है।' आईएएस में जाने से पहले मैं हंसराज कॉलेज में पढ़ा रहा था। और यह काम भी कम दिक़्क़ततलब नहीं था। इसलिए अंत में निर्णय कर लिया कि मैं आईएएस ही ज्वाइन करूँगा।

ख़ैर, नियुक्ति के बाद मेरा काम और वास्ता पटवारियों से पड़ा, जिन्हें महाराष्ट्र में तलाटी कहा जाता है। आप जानते हैं कि पटवारी का काम ज़मीन के दस्तावेज़ सँभालना होता है, और यह एक ऐसा काम है जिसमें वे जम कर गड़बड़ी करते हैं। अब दस्तावेज़ों की इलेक्ट्रॉनिक व्यवस्था के बाद स्थिति में थोड़ा बदलाव ज़रूर आया है। परगना अधिकारी (एसडीओ) पटवारियों का बॉस होता है। उनकी नियुक्ति उसी के हाथों होती है। तो पदभार ग्रहण करने के बाद मैंने सोचा कि पटवारियों पर तो मैं नकेल कस कर ही रहूँगा। परगना अधिकारी का कार्यकाल दो वर्ष के लिए निर्धारित होता है।

मैंने काम शुरू किया। कुछ समय बाद मेरी नागपुर सम्भाग के आयुक्त से मुलाक़ात हुई तो उन्होंने कहा कि मैं तुम्हारी किसी मीटिंग में आना चाहता हूँ। कमिश्नर साहब बहुत शालीन और विद्वान व्यक्ति थे। उद्योग-जगत के मामलों पर उनकी गहरी पकड़ थी। मैंने पूरी आज्ञाकारिता के साथ कहा कि ज़रूर आइए। वैसे भी आईएएस में औपनिवेशिक संस्कार बहुत गहरे जमे हैं। ख़ैर, मीटिंग

बेनामी ट्रांज़ेक्शन एक्ट ... एक आधा-अधूरा अधिनियम था, जो मुख्यत: इसलिए बनाया गया था क्योंकि हमने संयुक्त राष्ट्र में ऐसा क़ानून बनाने की प्रतिबद्धता दर्शाई थी। ... हमने संयुक्त राष्ट्र के 2003 के भ्रष्टाचार संबंधी सम्मेलन के दस्तावेज़ पर 2011 में जाकर दस्तख़त किये। इस मामले में हम सबसे फ़िसड्डी रहे। ... वियना में हमारे राजदूत ने फ़ोन किया था कि पूरी दुनिया में अब केवल दो देश ऐसे बचे हैं जिन्होंने उस दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। ... इसके बाद आनन-फानन में कुछ नियम बना दिये गये। अधिनियम में संशोधन करना तो एक अलग काम था। फ़िलहाल तो सिर्फ़ ये दिखाना था कि अधिनियम कैसे और किस तरह लागू किया जाएगा। और ये नियम 28 बरसों तक नहीं बने।

के दौरान उन्होंने तलाटियों के बारे में कुछ नहीं कहा। ख़ुद तलाटियों के व्यवहार में भी विशेष बात नहीं थी, लेकिन उस सभा में उन्होंने एक असिस्टेंट कमिश्नर को बोलने के लिए कहा।

असिस्टेंट कमिश्नर प्रशासनिक दाँव-पेंच में पारंगत थे। उन्होंने कहना शुरू किया कि हम आपकी भावनाओं की क़द्र करते हैं। और आप जो करना चाहते हैं, हम उसका सम्मान करते हैं। यह सुनकर मुझे खटका लगा और मैं सोचने लगा कि मैंने तो कभी कुछ खुल कर नहीं कहा कि मैं क्या करना चाहता हूँ। संक्षेप में, असिस्टेंट कमिश्नर ने मुझे संकेत दे दिया जिसका मतलब था कि मुझे ज़्यादा उत्साह न दिखा कर 'मज्झिम निकाय' का पालन करना चाहिए। अब दूसरी घटना के बारे में बताता हूँ। इस नियुक्ति के बाद मुझे अकोला भेजा गया। वह शहरी क्षेत्र था जहाँ चुंगी से बड़ी आय होती थी। मुझे वहाँ का प्रशासक बनना था। वहाँ के नागरिक भ्रष्टाचार से बड़े परेशान थे। लोगों का कहना था कि वे टैक्स तो देंगे लेकिन नगरपालिका में जमा न करा कर बैंक में जमा कराएँगे। यह नये ढंग का सविनय अवज्ञा आंदोलन था। इसे देखते हुए सरकार ने परगना अधिकारी को प्रशासक बनाने का फ़ैसला किया। मैं यह ज़िम्मेदारी पाकर बहुत ख़ुश था। मुझे लगा कि भ्रष्ट लेन-देन को तो मैं तुरंत ख़त्म कर दूँगा। वह हो भी गया, कोई कुछ नहीं बोला।

मैंने सारे निर्णय लिए। इस दौरान कभी-कभी ख़याल भी आता था कि कहीं मेरा तबादला तो नहीं किया जा रहा है! लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। मैं अपना कार्यकाल पूरा करके वहाँ से चला गया। अभिभूत था कि मैंने राजस्व को बढ़ा कर इतना कर दिया। इसके बाद मुझे ज़िलाधिकारी बनाकर नांदेड़ भेज दिया गया। वहाँ मुझे एक व्यक्ति का पत्र मिला जिसमें लिखा था कि आप नांदेड़ में तो अच्छा काम कर रहे हैं लेकिन अकोला के भाग्य में तो सुधरना नहीं लिखा है। असल में इस बीच हुआ यह था कि मेरा ट्रांसफर होने के बाद अकोला के चुंगी-संग्रह से संबंधित निकाय को छह महीने के अंदर दुबारा बहाल कर दिया गया। यह वही निकाय था जिसे पहले बर्ख़ास्त किया गया था। अब सांस्थानिक राजनीति की चालाकी देखिए कि उसे पता था कि छह महीने बाद मुझे प्रोन्नत करके कहीं और भेज दिया जाएगा। लिहाज़ा, इस दौरान लोगों की शिकायतें दूर करने और अपनी बला टालने के लिए मुझे प्रशासक बना दिया गया। छह महीने तक मेरे काम में कोई हस्तक्षेप नहीं किया गया और जब ख़ज़ाना भर गया और मेरे तबादले की बारी आयी तो फिर उसी निकाय को बहाल कर दिया गया!

अब सांस्थानिक राजनीति का एक दूसरा प्रसंग देखिए। प्रशासनिक सेवा में लम्बा अरसा गुज़ारने के बाद जब मैं प्रशासनिक सुधारों से संबंधित विभाग (कार्मिक मामलों के मंत्रालय) में पहुँचा तो मुझे लगा कि अब मैं सही जगह आ गया हूँ। यह विभाग सीधे

प्रधानमंत्री के नेतृत्व में काम करता है। तब मैं इस विभाग का इंचार्ज था। इस नाते मुझे दुनिया के विभिन्न देशों में घूमने का मौक़ा मिला। और मैं इन देशों के प्रशासनिक क्रियाकलापों को नज़दीक से देख पाया। सत्ता और शुचिता की समस्याएँ तो वही रहेंगी और द्वंद्व भी रहेंगे ही, लेकिन कुछ देशों में अलग तरह का महत्त्वपूर्ण काम हो रहा है।

ब्रिटेन में 2010 में एक अधिनियम पारित किया गया जिसे ब्राइबरी एक्ट कहा जाता है। मुझे लगा कि अगर इस अधिनियम को भारत में लागू करके देखा जाए तो शायद यह एक अच्छी बात होगी। वैसे भी भ्रष्टाचार निरोधक क़ानून में बदलाव करना ही था। इस संदर्भ में दूसरा अहम दस्तावेज़— यूएन प्रिवेंशन अगेंस्ट करप्शन, संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 2003 में तैयार किया गया था। यह विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों के आपसी विचार-विमर्श का परिणाम था। यह एक ज़बरदस्त दस्तावेज़ था। तो उस समय क्या हुआ कि दूसरे प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन किया गया। आयोग की रपट पंद्रह खण्डों में आयी। रपट के पहले खण्ड में प्रशासनिक नैतिकता पर प्रकाश डाला गया था। कई अच्छी बातें कही गयी थीं। लेकिन अंदर की बात यह है कि रपट में चाहे जो लिखा हो, अंततः यह सरकार तय करती है कि उसके किन बिंदुओं पर अमल किया जाएगा। मुझे हर बुधवार को विभाग के समक्ष यह स्पष्ट करना होता है कि रपट द्वारा सुझाई गयी दो सौ तेरह अनुशंसाओं पर राज्यों और विभिन्न विभागों द्वारा कितना अमल किया जा रहा है। उस समय मैंने एक मज़ेदार बात देखी। मैंने देखा कि बेनामी लेन-देन के इर्दगिर्द एक क़िस्म का घटाटोप खड़ा किया जा रहा है।

आपको शायद याद होगा कि हमारे यहाँ 1988 में बेनामी ट्रांज़ेक्शन एक्ट पारित हुआ था। दरअसल, यह एक आधा-अधूरा अधिनियम था, जो मुख्यतः इसलिए बनाया गया था क्योंकि हमने संयुक्त राष्ट्र में ऐसा क़ानून बनाने की प्रतिबद्धता दर्शाई थी। प्रसंगवश, यह भी बता दूँ कि हमने संयुक्त राष्ट्र के 2003 के भ्रष्टाचार संबंधी सम्मेलन के दस्तावेज़ पर 2011 में जाकर दस्तख़त किये। इस मामले में हम सबसे फ़िसड्डी रहे। समझौते की शर्त को पूरा करने के लिए लाया गया था। मुझे वह कैबिनेट नोट याद है। मैं उसके बाक़ी पहलुओं पर बात नहीं करूँगा। लेकिन यह नोट इसलिए तैयार किया गया था क्योंकि वियना में हमारे राजदूत ने फ़ोन किया था कि पूरी दुनिया में अब केवल दो देश ऐसे बचे हैं जिन्होंने उस दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। मेरे वरिष्ठ अधिकारियों का कहना था कि लेकिन इस काम के लिए यह उपयुक्त समय नहीं है। इस पर मैंने वियेना से प्राप्त संदेश आगे बढ़ा दिया। इसके बाद आनन-फ़ानन में कुछ नियम बना दिये गये। अधिनियम में संशोधन करना तो एक अलग काम था। फ़िलहाल तो सिर्फ़ ये दिखाना था कि अधिनियम कैसे और किस तरह लागू किया जाएगा। और ये नियम 28 बरसों तक नहीं बने।

सात बुनियादी प्रश्न

तो अब सावधानी से रेखांकित करने की बात यह है कि आज के संदर्भ में समस्याएँ क्या हैं। और मैं जो कहने जा रहा हूँ उसे कोई ग़लत नहीं ठहरा सकता। मेरे कुछ प्रश्न हैं। इसके बाद मैं बात समाप्त करूँगा। हमें इन्हीं पर मंथन करना है। हमें अब शोकसभा की मानसिकता से आगे निकलना है। अभी एक बात और कहना चाहता हूँ, मैं *इण्डियन जर्नल ऑफ़ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन* में लेख वग़ैरह लिखता रहता हूँ। उसके सम्पादक ने एक बार मुझसे कहा कि आपको भ्रष्टाचार के विरोध में एक लेख लिखना है।

पहला सवाल : लोकपाल और लोकायुक्त— ये लगभग साल भर पहले की बात है। लेकिन मेरे सामने संकट यह था कि मैं लोकपाल के बारे में क्या कहूँगा! मेरा मतलब यह है कि एक लोकपाल के प्रावधान को राष्ट्रपति ने 2013 में अपनी सम्मति दे दी थी, लेकिन वह आज तक लागू नहीं हुआ। 2016 में सरकार ने बेनामी ट्रांज़ेक्शंस के मामले में अच्छा क़ानून बनाया। लेकिन पूरा मामला इतना

पेचीदा और अस्पष्ट है कि आप इस पर क्या और किस तरह लिखें! बहरहाल, मैंने उस लेख का तीन-चौथाई हिस्सा पूरा कर लिया था। मुझे उम्मीद थी कि सर्वोच्च न्यायालय इस बीच लोकपाल के बारे में कोई ठोस व्यवस्था कर देगा। लेकिन, यह उम्मीद आज तक तो पूरी नहीं हुई।

अब सवाल उठता है कि इस देश में आज तक लोकपाल की संस्था क्यों नहीं है? आप सब लोकपाल के इतिहास से परिचित हैं। मोरारजी देसाई ने 1966 के पहले प्रशासनिक सुधार आयोग में इसकी अनुशंसा की थी। उसके पहले भी पॉल एप्पलबाई इसके बारे में कहते रहे थे। जैसा कि मैंने बताया, राष्ट्रपति ने उसे पहली जनवरी, 2014 को स्वीकृत किया। अब जन-लोकपाल वाले कहते हैं हमारा विचार ज़्यादा कारगर होगा। मैं कहता हूँ कि चलो, यह भी ठीक है पर पहले लागू तो करो। संशोधन या बदलाव तो बाद में होते रहेंगे। लोकपाल की अधिसूचना 16 जनवरी, 2014 को जारी होनी थी। आज तीन साल हो चुके हैं, अभी तक तो ऐसी कोई अधिसूचना नहीं आयी है।

इस दौरान सर्वोच्च न्यायालय एक बार पूछ भी चुका है कि लोकपाल में क्या दिक़्क़त है? अब देखिए कि धारणाओं के निर्माण का खेल चल रहा है। सरकार तो कह रही है कि हमने फलाँ-फलाँ को धर लिया। टीवी पर भी इस तरह की घटनाएँ और बातचीत रोज़-ब-रोज़ दिखाई-सुनाई देती हैं। इसके ज़रिये दरअसल अव्यक्त ढंग से कहा ये जा रहा है कि इतना सब करने के बावजूद क्या मेरे सर पर अब लोकपाल भी बिठाओगे! मैं सिर्फ़ केंद्र सरकार की ही बात नहीं कर रहा हूँ। राज्यों की तरफ़ भी देख लीजिए। ग़ौर करिए, अधिनियम का नाम क्या है? उसका नाम है लोकपाल ऐंड लोकायुक्ताज बिल। इस पर लोगबाग़ पूछते हैं कि ये लोकायुक्त क्या होता है? लोकायुक्त राज्यों के लिए होता है। लोकायुक्त की संस्था बहुत बुरी हालत में है।

महाराष्ट्र में इस पद की व्यवस्था 1971 से है। लोकायुक्त के पद पर कोई न्यायाधीश ही विराजमान होता है; उसके नीचे एक-दो और लोग होते हैं। सिद्धांततः वह भ्रष्टाचार के मामले में अपनी अनुशंसाएँ देता है। अब मेरा सवाल है कि 1971 के बाद से महाराष्ट्र में जो इतने घोटाले हुए हैं तो लोकायुक्त की किसी न किसी मामले में अनुशंसाएँ आयी होंगी। लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला।

सांस्थानिक राजनीति के सामने लोकायुक्त की संस्था निरर्थक साबित हो जाती है। अगर लोकायुक्त किसी मामले में कोई अनुशंसा करता भी है तो सरकार के लिए उसे स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होता। ऐसे मामलों में दिक़्क़त ये होती है कि शिकायत मूलतः लोक-सेवक के ख़िलाफ़ की जाती है। यानी अब अलीबाबा भी है और उसके चालीस चोर भी हैं और उसकी गुफ़ा में अधिकारी-तंत्र के लोग भी उसकी सेवा में लगे हैं। जैसे आज कोई अदालत भारत सरकार के मुख्य सचिव जैसे अधिकारी को सज़ा सुनाती है तो कल पूरा अधिकारी-तंत्र सचेत हो जाता है।

मेरा सवाल है कि लोकायुक्त में संशोधन क्यों नहीं किया गया? 2013 में जब केंद्र सरकार अन्ना आंदोलन के दबाव में आकर लोकायुक्त बनाने को तैयार हुई तो पश्चिम बंगाल से आवाज़ उठी कि इससे हमारी स्वायत्तता पर आँच आएगी लिहाज़ा हम इसे स्वीकार नहीं करेंगे। मेरा कहना है कि एक मॉडल एक्ट तो आप बना ही सकते हैं। बाद में जो संशोधन ज़रूरी लगते हैं उन्हें करते रहो। इसमें क्या दिक़्क़त है। लेकिन वह नहीं होने दिया गया। वह अधिनियम इंटरनेट पर मौजूद है। उसमें कहीं एक छोटा सा अनुच्छेद जोड़ा गया है कि सरकार उन राज्यों में लोकायुक्त की व्यवस्था करेगी जहाँ अभी तक उसका प्रावधान नहीं है। इसमें संशोधन आदि का कोई उल्लेख नहीं है। मेरा सवाल है कि उसमें संशोधन की बात क्यों नहीं की गयी?

प्रकारांतर से एक बात बताना चाहता हूँ। जब नयी सरकार आयी तो हम लोगों ने लोकायुक्त का एक नया क़ानून तैयार किया था। वह क़ानून मैंने ही बनाया था। यह क़ानून बहुत पसंद किया गया, लेकिन उसे लागू नहीं किया गया। असल में, जब आप वरिष्ठ हो जाते हैं तो आपको बहुत पसंद किया जाता है; आपको पूरी इज़्ज़त दी जाती है और आपसे ऐसा कुछ नहीं कहा जाता जिससे आपको दुख

पहुँचे। लेकिन सांस्थानिक राजनीति आपके विचार पर कोई अमल नहीं करेगी। और यह बात किसी एक राज्य तक सीमित नहीं है।

दूसरा सवाल : कितना इंतज़ार और— पहले महाराष्ट्र सरकार कहती थी कि एक बार लोकपाल बन जाए तो हम भी अपने यहाँ चीज़ें बदल देंगे। मेरा कहना है कि अधिनियम तो बन ही गया है, तो फिर आपको कौन रोक रहा है। अन्नाजी अब कह रहे हैं कि इसके लिए दुबारा आंदोलन करेंगे। लेकिन इस तरह रुक-थम कर कोई आंदोलन नहीं चलता। ईसा मसीह की एक कहावत है जो मुझे बहुत अच्छी लगती है। वे कहते हैं कि मैंने बीज बिखेरे; कुछ चट्टान पर जा गिरे, कुछ रेत पर और कुछ उर्वर मिट्टी पर। आपसे बात करते हुए मुझे एहसास हो रहा है कि बीज उर्वर मिट्टी पर गिर रहे हैं।

अब ज़रा लोकायुक्त अधिनियम की तीसरी विसंगति पर ध्यान दें। 2013 में बने और 2014 में स्वीकृत किये गये लोकपाल अधिनियम के चवालीसवें अनुच्छेद में कहा गया था कि सभी लोक-सेवक अपनी तथा पति/पत्नी की सम्पत्ति, दायित्वों और परिवार के न कमाने वाले सदस्यों का ब्योरा लोकपाल के पास जमा करेंगे। मैं इस प्रावधान से बड़ा ख़ुश था। आख़िर इसमें क्या ग़लत था?

दुनिया के अधिकांश क़ानूनों में ऐसी ही व्यवस्था है। लेकिन 2016 में यह प्रावधान पूरी तरह वापस ले लिया गया। असल में, प्रशासन में आपको एक ऐसा वाग्जाल रचना पड़ता है जिससे बॉस प्रसन्न रहे। आप ज़रा इस अंतर पर ध्यान दीजिए कि क़ानूनी निर्देश और प्रशासनिक निर्देश में बुनियादी अंतर होता है। क़ानूनी निर्देश सरकार के लिए बाध्यकारी होता है, जबकि प्रशासनिक निर्देश को वह जब चाहे बदल सकती है। इस तरह लोकपाल अधिनियम के चवालीसवें अनुच्छेद में संशोधन करके उसे सरकार की मर्ज़ी के हवाले कर दिया गया।

तीसरा सवाल : सम्पत्ति की घोषणा का प्रावधान— सम्पत्ति की घोषणा से संबंधित यह प्रावधान क्यों हटा दिया गया। और इससे बड़ी बात ये है कि इस मामले में विरोध की आवाज़ क्यों नहीं उठ रही है।

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम एक बहुत अच्छा क़ानून है। ब्रिटेन के ब्राइबरी एक्ट की तर्ज़ पर इस क़ानून में भ्रष्टाचार को क़ानून-सम्मत आय से अधिक आय के रूप में व्याख्यायित किया गया था। लेकिन हमारे अधिकारी-तंत्र के लोगों ने इस प्रावधान का ख़ात्मा कर दिया। मेरा कहना है कि जब ब्रिटेन के उस क़ानून को दुनिया भर में सराहा गया है और आज तक उसमें कोई गड़बड़ महसूस नहीं की गयी है तो फिर हमारे यहाँ विधि-प्रतिष्ठान को उसमें ऐसा क्या आपत्तिजनक नज़र आया कि उसका यह पहलू नज़रअंदाज़ कर दिया गया। क्या ये आंदोलन का मुद्दा नहीं बनना चाहिए? संक्षेप में, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के खण्ड सात, आठ और नौ को इरादतन कमज़ोर करने की कोशिश की जा रही है और इसका कहीं कोई संगठित विरोध नहीं हो रहा!

चौथा सवाल : दोष-सिद्धि की दर— मौजूदा सरकार कह रही है कि हम भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ व्यापक स्तर पर कार्रवाई करते रहे हैं। मैं मानता हूँ कि पहले के मुक़ाबले स्थिति बेहतर हुई है। लेकिन एक नागरिक के तौर पर मैं यह कहना चाहता हूँ कि कार्रवाई करने से कुछ नहीं होता। हमारे एक मंत्री थे। वे ग्रामीण क्षेत्र से आते थे। गृह विभाग में राज्यमंत्री थे। वे बिना किसी लाग-लपेट के बोलते थे। अगर उनसे किसी के ख़िलाफ़ कार्रवाई करने को कहा जाता था तो कहते थे कि हाँ, तुरंत सस्पेंड कर दो। लेकिन मज़े की बात है कि संबंधित व्यक्ति को संस्पेंड करने के तुरंत बाद ही बहाल भी कर देते थे। जब ऐसी चीज़ें घटती हैं तो हमें इस बात पर ध्यान देने चाहिए कि ऐसे मामलों में दोष-सिद्धि की दर क्या है।

भ्रष्टाचार निवारण से संबंधित मामलों के आँकड़े *क्राइम इन इण्डिया* में निकलते रहते हैं और



उसके आँकड़े अमूमन ठीक होते हैं। मेरा सवाल है कि यह दर 57 प्रतिशत ही क्यों है? और महाराष्ट्र जैसे प्रदेश में यह दर 9 प्रतिशत क्यों है? यानी 91 प्रतिशत छूट जाते हैं! मतलब वह दोषी नहीं था, लेकिन आपने पकड़ लिया। लेकिन, ऐसा नहीं होता। अक्सर ये नहीं होता। क्या आरोप की जाँच में मंत्री (निर्णय-प्रक्रिया का शुरुआती बिंदु) शामिल थे? उत्तर ये है कि नहीं थे। यानी जाँच के स्तर पर कुछ छोड़ दिया गया है। और यहाँ यह भी देखिए कि जब आप दण्डित करने की प्रक्रिया को स्वायत्त नहीं बनाएँगे तो और क्या हो सकता है!

हज़ारों-हज़ार रपटें इस तथ्य की तसदीक करती हैं कि जाँच और दण्ड-विधान की प्रक्रिया को स्वायत्त होना चाहिए। कभी-कभी राज्य आपराधिक दण्ड-संहिता (सीआरपीसी) में भी बदलाव कर देते हैं। संक्षेप में कहूँ तो हमारी दोष-सिद्धि की दर बहुत नीचे है। मैं एक समय ब्रुसेल्स के इंस्टीट्यूट ऑफ़ एडमिनिस्ट्रेटिव साइंसेज़ की गवर्निंग कौंसिल में शामिल था। यह संस्थान भ्रष्टाचार के मामलों में दोष-सिद्धि की दर के विषय में आँकड़े निकालता रहता था। उस समय ब्रिटेन में यह दर 89 प्रतिशत थी, दक्षिण कोरिया में 92 प्रतिशत, अमेरिका में 78 प्रतिशत थी। भारत में तब यह दर बहुत नीचे थी। हम भारत में हर दिन शेयर मार्केट के उतार-चढ़ाव को देखकर आंदोलित या निराश होते रहते हैं।

मैं जानना चाहता हूँ कि क्या हम कभी दोष-सिद्धि की दर के संबंध में इसी तरह प्रफुल्ल और निराश होते हैं? मेरा कहना है जिन्हें ऐसी चीज़ों का ध्यान रखना है, रखते रहें, लेकिन भाई इस सच्चाई पर भी तो नज़र रखिए कि अपने यहाँ दोष-सिद्धि की क्या दर चल रही है। यह काम हम-आप जैसे लोगों को ही करना होगा। यह काम करना बहुत मुश्किल भी नहीं है। कुछ छोटे-छोटे एनजीओ ऐसा करते भी हैं, लेकिन दुखद ये है कि हम अपने ही धंधों में लगे रहते हैं और दाएँ या बाएँ देखना ही नहीं चाहते!

पाँचवाँ सवाल : अनुमति की ज़रूरत क्यों— भ्रष्टाचार-निवारण के अंतर्राष्ट्रीय उपायों के बरअक्स रखकर देखें तो हमारे यहाँ एक अजीब स्थिति है। हमारे यहाँ दण्ड की प्रक्रिया शुरू करने से पहले अनुमति लेनी पड़ती है। आप अगर यातायात के नियमों का उल्लंघन करते हैं तो आपको तुरंत पकड़ लिया जाता है। अगर दुर्भाग्य से इस उल्लंघन के कारण किसी की मौत हो जाती है तो आपके ख़िलाफ़ एफ़आईआर दाख़िल हो जाएगी न! क्या इसमें भी यह होना चाहिए कि आपके ख़िलाफ़ कार्रवाई करने के लिए किसी और से अनुमति ली जाए?

महाराष्ट्र के अनुभव से ही एक बात कहूँगा। वहाँ यह शासनादेश लाने की तैयारी की गयी कि किसी के ख़िलाफ़ भ्रष्टाचार का मामला दर्ज करने से पहले एंटी-करप्शन ब्यूरो को अनुमति लेनी होगी। मैंने इसका सख़्त विरोध किया। मैंने कहा कि भ्रष्टाचार की जाँच के मामले में किसी व्यक्ति को बचाव के दोहरे रास्ते नहीं दिये जा सकते। आप ग़ौर करिए कि दुनिया के किसी भी देश में ऐसा नहीं होता।

छठा सवाल : व्हिसिल ब्लोअर— बातचीत के इस आख़िरी दौर में मैं व्हिसल–ब्लोअर के बारे में दो शब्द कहूँगा। मैं गृह मंत्रालय में था, अपराध के मामले देखता था। अक्सर सुनने में आता था कि अगर आप व्हिसल–ब्लोअर की हिफ़ाज़त नहीं करेंगे तो कैसे चलेगा। इस संबंध में क़ानून बना है, पारित भी हुआ है। लेकिन लागू नहीं हुआ है। हमें देखना चाहिए कि व्हिसल–ब्लोअर को सुरक्षा देने के मामले में अंदरूनी कहानी क्या चल रही है। इस पर लोग तभी लिखते हैं जब कोई बहुत बड़ी घटना घट जाती है। लोग अगर इस मुद्दे पर गम्भीरता से विचार नहीं करेंगे तो चीज़ें आगे नहीं बढ़ पाएँगी।

अब बस दो छोटी–छोटी बातें! सीबीआई, केंद्रीय सतर्कता आयोग, प्रवर्तन निदेशालय तथा राज्यों में एंटी–करप्शन ब्यूरो और पुलिस की भूमिका देखें। इन संस्थाओं में सबसे प्रमुख सीबीआई और केंद्रीय सतर्कता आयोग हैं। विनीत नारायण बनाम भारतीय संघ के मामले में एक बड़ा फ़ैसला आया था। उस समय सर्वोच्च न्यायालय में जेएस वर्मा जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति मुख्य न्यायाधीश थे। उनके फ़ैसले ने एक तरह से हमारे पूरे विधि–शास्त्र को ही बदल डाला। उन्होंने अपने फ़ैसले में निरंतर निगरानी करने का आग्रह किया। जिसका मतलब यह है कि जब तक कोई संस्था अपेक्षित सुधारों के एजेण्डे को लागू नहीं करेगी तब तक उस पर बराबर निगाह रखी जाएगी। तो यह भारत में एक बड़ी चीज़ हुई है।

मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि आप मेरी बताई कोई किताब न पढ़ें, लेकिन इस फ़ैसले का वह हिस्सा ज़रूर पढ़ें जहाँ विनीत नारायण ने अपने दिशा–निर्देश दिये हैं। सरकार तो कहती रहेगी कि हम केंद्रीय सतर्कता आयोग का क़ानून लाए या हमने सीबीआई की कार्यप्रणाली में फलाँ–फलाँ सुधार किये। लेकिन आप देखें कि अगर सीबीआई के सर्वोच्च पद पर बैठा एक व्यक्ति ख़ुद अपराध के दायरे में आता है तो ये शर्म की बात है। इसका मतलब साफ़ है चयन की प्रक्रिया में ही कहीं भारी गड़बड़ी है। ऐसे बहुत से अधिकारी हैं जो अदालत से रोज़ डाँट सुनकर घर आते हैं। मेरे ख़याल से इस फ़ैसले को बारीकी से देखने की ज़रूरत है। मतलब, जब किसी संस्था के बारे में कहा जाता है कि उसकी वार्षिक रिपोर्ट आएगी और उसे वेबसाइट पर अपलोड किया जाएगा, तो हमें ऐसी चीज़ों की निगरानी करते रहना चाहिए कि कब क्या हो रहा है।

> प्रशासन में आपको एक ऐसा वाग्जाल रचना पड़ता है जिससे बॉस प्रसन्न रहे। आप ज़रा इस अंतर पर ध्यान दीजिए कि क़ानूनी निर्देश और प्रशासनिक निर्देश में बुनियादी अंतर होता है। क़ानूनी निर्देश सरकार के लिए बाध्यकारी होता है, जबकि प्रशासनिक निर्देश को वह जब चाहे बदल सकती है। इस तरह लोकपाल अधिनियम के चवालीसवें अनुच्छेद में संशोधन करके उसे सरकार की मर्ज़ी के हवाले कर दिया गया।

सातवाँ सवाल : क्या हम फ़ुटबॉल हैं— तो अंत में, मेरा ज़ोर इस बात पर है हमें दोष–सिद्धि की दर पर ध्यान देना चाहिए, चयन की प्रक्रिया और निगरानी पर निगाह रखनी चाहिए। क्या हम सिर्फ़ सर्वोच्च न्यायालय के डण्डे से ही चलेंगे? क्या हम फ़ुटबॉल हैं कि हममें जितनी ज़ोरों से किक मारी जाएगी तो हम उतने ज़ोर से दौड़ेंगे? सर्वोच्च न्यायालय ने राजनेताओं पर चल रहे जिन 1571 मामलों के बारे में निर्देश दिये थे, वे सामान्य मामले नहीं हैं। ऐसे तमाम मामले गम्भीर अपराध की श्रेणी में आते हैं, जिनमें कम से कम सात साल की सज़ा होती है।

अभी दो दिन पहले अदालत ने जब केंद्र सरकार को तलब किया तो उसने कहा इन मामलों से संबंधित आँकड़े तो चुनाव आयोग बताएगा। मेरा कहना है कि इस मामले में तीन साल अदालत की अवमानना होती रही, लेकिन कहीं कोई बेचैनी नहीं हुई। न्यायिक जवाबदेही अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। मैंने कई जगह विशेष अदालतों की दुर्गति देखी है। मैं एक आख़िरी घटना के साथ अपनी बात को विराम दूँगा। यह 1999 की बात है। मैं तब जेएनयू में अध्ययन-अवकाश के लिए आया हुआ था।

एक दिन बसंत कुंज के मेरे आवास पर दिल्ली पुलिस आयी। उन्होंने मुझसे कहा कि आपके नाम का सम्मन है, आपको जलगाँव चलना होगा। ये असल में एक पुराना मसला था। मैंने कभी भ्रष्टाचार के मामले में किसी पर कार्रवाई की थी। 1988 का मामला था, और मुझे तलब किया जा रहा था 1999 में! ख़ैर, मैंने उनसे कह दिया कि आएँगे। मैंने उज्ज्वल निकम को फ़ोन किया। 1988 में निकम डिस्ट्रिक्ट प्लीडर हुआ करते थे। आज नामी वकील हैं। बहरहाल, मैं अदालत में पहुँचा और वहाँ देखा कि मैंने जिस व्यक्ति को प्रोसीक्यूट किया था, वह अभी तक जेल में था।

मैंने पूछा कि विशेष अदालत ने इस विषय में निर्णय क्यों नहीं लिया? तो इस पर बताया गया यहाँ कोई आना ही नहीं चाहता। लब्बेलुआब ये है कि स्पेशल कोर्ट की व्यवस्था करने से कुछ नहीं होगा। हमें ऐसी अदालतों को मज़बूत बनाना होगा, नहीं तो जैसा उस व्यक्ति के साथ हुआ, वैसे हादसे होते रहेंगे। अभियोग लगाकर छोड़ देना हमेशा राजनीति का हिस्सा नहीं होता, वह प्रशासनिक कार्यकुशलता और न्यायपालिका से सही तालमेल के अभाव का भी प्रतीक है। और यह अलग से कहने की ज़रूरत नहीं है कि यह सब परले दर्जे की हृदयहीनता का भी द्योतक है।